* श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः *

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्

भागवत-पत्रिका

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ८ | गौराब्द ४७७, मास—त्रिविक्रम ७, वार—अनिरुद्ध
बुधवार, ३१ वैशाख, सम्वत् २०२०, १५ मई १९६३ | संख्या १२

श्रीश्रीगौराङ्गस्मरणमङ्गलस्तोत्रम्

[श्रीश्रीलठक्कुर भक्तिविनोदकृत]

(३)

प्रेतक्षेत्रे द्विजपरिवृतः सर्वदेवप्रणम्यः मंत्रं लेभे निजगुरुपुरी वक्त्रतो यो दशार्णम् ।
गौडं लब्ध्वा स्वमतिविकृतिच्छद्मनोवाच तत्त्वं तं गौराङ्गं नवरसपरं भक्तमूर्त्तिं स्मरामि ॥१३॥
विप्रपादोदकं पीत्वा यो बभूव गतामयः वर्णाश्रमाचारपालं तं स्मरामि महाप्रभुम् ॥१४॥
लक्ष्मीदेवीं प्रणयविधिना वल्लभाचार्यकन्यामङ्गीकुर्वन् गृहमखपरः पूर्वदेशं जगाम ।
विद्यालापैर्बहुधनमहो प्राप यः शास्त्रवृत्तिं स्तं गौराङ्गं गृहपतिवरं धर्ममूर्त्तिं स्मरामि ॥१५॥
वाराणस्यां सुजनतपनं सङ्गमय्य स्वदेशं लब्ध्वा लक्ष्मीविरहवशतः शोकतप्तां प्रसूतिम् ।
तत्त्वालापैः सुखदवचनैः सान्त्वयामास यो वै तं गौराङ्गं विरतिसुखदं शान्तमूर्त्तिं स्मरामि ॥१६॥
मातुर्वाक्यात् परिणयविधौ प्राप्यविष्णुप्रियां यः गङ्गातीरे परिकरजनैर्दिग्जितो दर्पहारी ।
रेमे विद्वज्जनकुलमणिः श्रीनवद्वीपचन्द्रः वन्देऽहं तं सकल विषये सिंहमध्यापकानाम् ॥१७॥
विद्याविलासैर्नवखण्डमध्य सर्वान् द्विजान् यो विरराज जित्वा ।
स्मार्तांश्च नैयायिक तान्त्रिकांश्च तं ज्ञानरूपं प्रणमामि गौरम् ॥१८॥

पद्यानुवाद—

[परलोकगत पं मधुसूदनदास गोस्वामी कृत]

गया गये पितु पिण्ड हित विद्यार्थी गन संग ।
विष्णुपाद निरखत तहाँ बाढ़ी प्रेम तरंग ॥
तहँ गुरु ईश्वर पुरीतें लियौ दशाक्षर मंत्र ।
पालत शास्त्राचार प्रभु यद्यपि परम स्वतन्त्र ॥१३॥

वर्णाश्रम आचार प्रभु पालत निज कृत सेतु ।
रोग न सायौ विप्रपद वारि पान इह हेतु ॥
गौड़ देश पुनि आयकै मत विकार छल लाय ।
आप आपनों तत्त्व सब भक्तन दियौ बताय ॥१४॥

वल्लभ आचार्य सुता लक्ष्मी सों करि ब्याह ।
गृहमेधिनकौ धर्म प्रभु पालो परम उछाह ॥
पूर्व देश यात्रा करी विद्या द्विजन पढ़ाय ।
धन संग्रह कीयौ प्रचुर विप्रवृत्ति दरसाय ॥१५॥

तपन मिश्र उपदेश कर पठये काशीधाम ।
आये पुनि जननी सविध गौड़ देश अभिराम ॥
प्रभु-वियोग लक्ष्मी वधु भई तिरोहित हाय ।
जननि शोक सन्ताप प्रभु हरौ तत्त्व समुझाय ॥१६॥

ब्याही पुनि विष्णुप्रिया जननी आयसु पाय ।
हरखित सब नदिया नगर जुगल निरखि द्विजराय ।
उजियारी निस गङ्ग तट शिष्यन मधि आसीन ।
नदिया ससि पण्डित मुकट दिग्विजयी जय कीन ॥
सकल पण्डितन यूथमें सदा सिंह सम राज ।
विद्या विविध विलास कर जीते द्विजन समाज ॥१७॥

तान्त्रिक, नैयायिक, जिते स्मार्त, शास्त्र परवीन ।
सब पण्डित जीते प्रभू कर कर पक्ष नवीन ॥
पण्डित जय अचरज कहा ज्ञान रूप प्रभु आप ।
नरलीला अनुसार कवि वरनत प्रकट प्रताप ॥१८॥

(क्रमशः)

वैष्णवका स्वतःसिद्ध ब्राह्मणत्व और अप्राकृतत्व

जगद्गुरु ब्रह्मासे गुरुपरम्पराके माध्यमसे अच्युत गोत्रीय आचार्योंने जिन-जिन वेदशाखाओं का अवलम्बन किया है, कर्मीगण उनको अपनी-अपनी वेदशाखाओंके प्रतिकूल मानकर अपनी संकीर्ण बुद्धिका परिचय दिये हैं । वास्तवमें नित्योपासक शाखाकी श्रेष्ठता ही सर्वत्र घोषित है । श्रीमद्भागवतके एकादश स्कंधमें इस विषयका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है । हम उन्हीं स्थानों पर इस विषयका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करेंगे; अतः यहाँ उन अगणित बातोंकी अवतारणा नहीं की गयी ।

याज्ञवल्क्य-धर्मशास्त्रमें संस्कारके सम्बन्धमें ऐसा लिखा गया है कि संस्कारसे पाप दूर हो जाते हैं; शूद्र केवल पापी होनेके कारण, उनका कोई संस्कार नहीं है, केवल पापी कुलमें जन्म ग्रहण करनेसे ही वे श्रीमद्भागवतका श्रवण नहीं कर सकते या भगवान्‌की उपासना नहीं कर सकते—ऐसी बात नहीं । ग्यारहवें स्कन्धमें—"सर्वेषां मदुपासनं" तथा सातवें स्कन्धमें "यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं" आदि अगणित प्रमाणोंके द्वारा यह स्पष्ट है कि सभीका पापरहित होकर भगवान्‌की उपासना में अधिकार है । श्रीजीवगोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुकी "दुर्गम-सङ्गमनी" टीकामें इन्हीं कारणोंसे ऐसा लिखा है कि दीक्षा-विधिके सभी अङ्गोंको जबतक ग्रहण नहीं किया जाता, तब तक द्विजत्वकी प्राप्ति नहीं होती । द्विजत्व प्राप्ति के लिये च्युत गोत्रीय ऋषियोंको सावित्र्य विधानका अवलम्बन करना आवश्यक है । दीक्षित व्यक्तिके लिये दीक्षा विधिके अनुसार संस्कारग्रहण रूप द्वितीय जन्म भी आवश्यक है । बिना संस्कारके लौकिक समाजमें प्रचलित ब्राह्मणता नहीं होती है ।

कुछ कर्मी स्मार्तोंके अनुसार अच्युतगोत्रीय श्रीसुत गोस्वामी शूद्र या वर्णसंकर थे । परन्तु यह उनका श्रीसूत गोस्वामीके चरणोंमें अपराधके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । परन्तु श्रीमद्भागवतमें शौनकादि ऋषियोंकी उक्तिसे श्रीसूत गोस्वामीका अनघत्व स्थापित हुआ है । वहाँ श्रीवेदव्यासजीने श्रीसूत गोस्वामीके लिये 'अनघ' शब्दका प्रयोग किया है । श्रीसूत गोस्वामीने पापयुक्त नीच कुलका परिचय देना छोड़कर श्रीशुकदेवका आनुगत्य किया था । गुरुदेवके आनुगत्यमें ही उनको श्रीमद्भागवत-श्रवणका अधिकार प्राप्त हुआ था—

"ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्येप्रायशोऽजित-जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥"

इस श्लोकको श्रीशुकदेव गोस्वामी के निकट श्रवण करनेके पश्चात् श्रीसूत गोस्वामीने निम्न कुलमें पैदा होकर भी तन-मन और वचनसे परमहंस वैष्णवराज श्रीशुकदेवके मुखसे श्रीमद्भागवतका श्रवण कर सभी संस्कारोंको ग्रहण कर अन्तमें पारमहंस-संहिताके प्रतिपादित बाह्य वेश ग्रहण किया था । उनके उस बाह्य वेशमें तात्कालिक स्मार्त-विधि-के संस्कारका चिह्न न देखकर बाह्य प्रज्ञा द्वारा परिचालित मनोधर्मी कुछ ऋषियोंने लोक-प्रचलित हरिविमुखताके ऐनकसे उनको (सूत गोस्वामीको) व्रात्य संकर कुलमें उत्पन्न एक साधु मात्र माना है । परन्तु सरस्वती देवीने उनलोगोंके मुखसे उनको "अनघ" तथा "धर्म-शास्त्रोंका अध्यापक" आदि वचनोंको भी स्फुरण करवाया है ।

शौनकादि ऋषियोंने श्रीसूत गोस्वामीको गुरुपद पर वरण कर उनसे उस स्निग्ध शिष्यके प्राप्य ज्ञान-को श्रवण करानेकी प्रार्थना की जिसे सूतगोस्वामीने अपने गुरुदेव श्रीशुकदेवजीसे श्रवण किया था।

कुछ गुरु वेशधारी पुरुष शिष्यके ऐकान्तिक कल्याणकी कामना नहीं करके अपनी वासनाकी परितृप्तिके लिए शिष्यके प्रति घृणाका भाव रखते हैं। ऐसे गुरु कहे जानेवाले स्वयं ही यह नहीं जान पाते कि यथार्थ मङ्गल क्या है और इसलिये वे अमङ्गल-को ही मङ्गलके रूपमें वरण करते हैं।

"न प्राकृतत्त्वमिह भक्तजनस्य पश्येत" इस विधिके अनुसार वैयासिक सम्प्रदाय श्रीगुरुदेवको संसार-दावग्निमें दग्ध मरणशील मानव नहीं मानता। मरणशीलका धर्म यह है कि पुत्र सत् हो अथवा असत्, हरिभजन छोड़ कर जड़ा सक्तिवश सर्वदा "पुत्र", "पुत्र" कहकर कृष्ण-विस्मृत हो पड़ते हैं। परन्तु श्रीवेदव्यासका 'पुत्र', "पुत्र" कहना उस प्रकारका नहीं है। वास्तवमें श्रीशुकदेवजी परम वैष्णव थे। वे सर्व जड़त्यक्त परमहंस थे। उनके जैसे महाभागवत परमहंसका संग छुट जाना श्रीव्यास जैसे गुरुभक्तोंके लिये आदरणीय नहीं है, बल्कि विरहजनक होता है। इसी बातको संसारासक्त लोगोंको समझानेके लिये जगद्गुरु श्रीव्यासदेवने वैसी लीलाका अभिनय किया है। उन्होंने वैसी लीलासे भगवद्विमुखोंको मोहित भी किया है। उसी प्रकार शराघातकी लीला से भगवान् श्रीकृष्णने, खुजलीरोगकी लीला द्वारा श्रीसनातन गोस्वामीने भी भगवद् विमुखोंको मोहित किया है। श्रीमहादेवजीका मायावाद शास्त्र प्रचार और ब्रह्माका मनु आदि धर्मशास्त्रोंके द्वारा सामाजिक शास्त्रोंका प्रचार कार्य भी अधिकार विहीन मोहन योग्य व्यक्तियोंको मोहित करनेके लिये ही जानना चाहिये। श्रीशुकदेवजी जगत्में आदर्श महापुरुष एवं जगद्गुरु हैं। वे अपने गुरु श्रीवेद-व्यासके निकट अध्ययन समाप्त करके जीवोंके ऊपर दया करनेके लिये निकल पड़े थे। बाह्य दृष्टिसे परम-हंस शुकदेवका पुनः परीक्षितकी राजसभामें गमन और श्रीसूत आदिको अपना संग प्रदान करना—ये सब कार्य भले ही असंगत जान पड़े, परन्तु पारमहंस धर्मके विचारसे उसे ही परम सदाचार नहीं माननेसे गुरु-अवज्ञाका दोष लगता है।

अतएव जिनका कर्म-बन्धन छिन्न नहीं हुआ है, वे ऐसा आरोप करते हैं कि वैष्णवोंका भी मेरे जैसे ही जन्म तथा कर्मबन्धन है। परन्तु वास्तवमें वैष्णव-जन जन्म और कर्मबन्धनसे सर्वदा परे होते हैं; उनको पाप तो क्या पुण्य भी स्पर्श नहीं कर पाता। वे कृपापूर्वक जिस किसी भी कुलमें आविर्भूत क्यों न हों, उनमें स्वतः सिद्ध ब्राह्मणत्व एवं अप्राकृतत्व होता है। ऐसे परमहंस वैष्णवोंका जबतक पदाश्रय न किया जाय, तब तक जीवका यथार्थ कल्याण नहीं होता; और तब तक वह भवसागरमें डूबता हुआ अशेष क्लेशोंको भोगता है।

—जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा

सातवाँ परिच्छेद

तटस्थधर्मवशतः बद्ध दशामें जीव मायाग्रस्त है

जीवके तटस्थ-धर्मके सम्बन्धमें पूर्व-परिच्छेदमें बतलाया गया है। उसी तटस्थ-धर्मके कारण जीव भगवन् ज्ञानके अभावमें निकटस्थ माया द्वारा भव-बन्धनमें जकड़ दिया गया है। श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा गया है—

> नित्यबद्ध कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
> नित्य संसार भुञ्जे नरकादि दुःख॥
> सेई दोषे माया पिशाची दण्ड करे तारे।
> आध्यात्मिकादि तापत्रय तारे जारि मारे॥
> काम क्रोधेर दास हञा तार लाथि खाय।
> भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु-वैद्य पाय॥
> ताँरे उपदेश मन्त्रे पिशाची पलाय।
> कृष्णभक्ति पाय, कृष्ण-निकटे जाय॥
>
> (म० २२।१२-१५)

अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्णका नित्यदास होने पर भी अपने तटस्थधर्मवशतः अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके कृष्णसे विमुख हो पड़ता है, तब वह संसारमें स्वर्ग-नरक आदि सुख-दुखोंका भोग करता है। कृष्ण-विमुखताके दोषके लिये ही माया-पिशाची जीवको स्थूल और लिंग-शरीरोंके आवरणमें बाँधकर दण्ड प्रदान करती है अर्थात् आध्यात्मिक, अधिदैविक और आधिभौतिक—त्रितापोंसे दग्ध करती है। वैसा जीव काम-क्रोध आदि षड्रिपुओंके वशीभूत होकर माया पिशाचीकी लातें खाता रहता है—यही जीवका रोग है। इस प्रकार संसारमें ऊपर नीचे भ्रमण करते-करते यदि सौभाग्य वश साधु वैद्यको पा लेता है, तब उनके उपदेशोंसे मायादेवी उस जीवको छोड़कर उसी प्रकार भाग जाती हैं जिस प्रकार किसी ओझा या वैद्यके मन्त्रों से कोई पिशाची किसी मनुष्यको छोड़-कर भाग जाती है। मायासे रहित ऐसा जीव ही कृष्णभक्ति प्राप्तकर कृष्णके निकट जानेका अधिकारी होता है।

बद्धजीवके सम्बन्धमें श्वेताश्वतर उपनिषद्में भी ऐसा कहा गया है—

> बालाग्र-शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
> भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ (५।९)

तात्पर्य यह है कि जीव जड़ शरीरमें अवस्थित होने पर भी सूक्ष्म और अप्राकृत तत्त्व है। जड़ीय बालकी नोंकके सौ टुकड़े कर पुनः उनमेंसे एक टुकड़ेका सौ टुकड़े करने पर उनमेंसे एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, उससे भी जीव अधिक सूक्ष्म होता है। इतना सूक्ष्म होने पर भी जीव अ-प्राकृत वस्तु है तथा आनन्त्यधर्मके योग्य होता है अर्थात् असीम होनेमें समर्थ है।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥
(श्वे. ५।१०)

यह जीवात्मा वास्तवमें न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। जब यह जीव शरीरको ग्रहण करता है, उस समय वह स्थूल शरीर ही स्त्री पुरुष और नपुंसकके रूपमें दिखलायी पड़ता है। अपने कर्मोंके फलस्वरूप जीव जिस शरीरको प्राप्त करता है, उसीमें वह रहता है और उस शरीरको ही स्त्री-पुरुष या नपुंसक कहते हैं। तात्पर्य यह कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद स्थूलशरीरको ले कर हैं। जीवात्मा वस्तुतः आत्मगत वस्तु है। बाह्य दर्शनसे स्त्री-पुरुष होनेपर भी जड़ शरीरका परिचय उसका निजी परिचय नहीं है।

सकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै—
ग्रासाम्बुवृष्ट्यात्मविवृद्धजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही
स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते॥ (श्वे.५।११)

संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, मोह, भोजन, जलपान और वृष्टि--इन सबसे (बद्ध) जीवके स्थूल शरीरकी वृद्धि और जन्म होते हैं। यह जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार फल भोगनेके लिये विभिन्न लोकोंमें गमन करता हुआ एकके बाद एकके क्रमसे नाना शरीरोंको बार-बार धारण करता रहता है।

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥(श्वे.५।१२)

जीव अपने किये हुए कर्मोंके संस्कारसे, गुणोंसे तथा शरीरके गुणोंसे युक्त होनेके कारण "मैं और मेरा" आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर नाना प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म रूपोंको स्वीकार करता है-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है। क्रिया, गुण और आत्मगुण द्वारा पुनः दूसरे रूपसे आच्छादित होता है।

अनाद्यनंतं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ (श्वे.५।१३)

ऐसा मायाबद्ध जीव इस दुर्गम संसारमें पतित दशोंमें सौभाग्य वश कभी सत्सङ्गके प्रभावसे श्रद्धा प्राप्त होकर भक्तिवृत्ति द्वारा अनादि-अनन्त अवतारों-के बीजस्वरूप विश्वमध्यगत विश्वस्रष्टा परमात्माको जब जान लेता है, तब वह मायाके समस्त बन्धनोंसे सदाके लिये छुटकारा प्राप्त कर लेता है।

श्रीआम्नायसूत्रमें जीवकी बद्ध-दशाका क्रम इस प्रकार बतलाया गया है--

"परेश-वैमुख्यात्तेषामविद्याभिनिवेशः ।" (३५ सूत्र)
"स्व-स्वरूप-भ्रमः ।"—(३६ सूत्र)
"विषमकामः कर्मबन्धः ।"–(३७ सूत्र)
"स्थूल-लिङ्गाभिमान-जनित-संसारक्लेशाश्च ।"
(३८ सूत्र)

अर्थात्-परमेश्वरसे विमुख होनेके कारण जीवों-का अविद्यारूप द्वितीयाभिनिवेश हुआ है ॥३५॥

उसीसे उनका स्व-स्वरूप-भ्रम हुआ है ॥३६॥

स्वरूप-भ्रमके कारण ही वे भयङ्कर काम कर्मके बन्धनमें पड़े हुए हैं ॥३७॥

स्थूल और सूक्ष्म शरीरमें आत्मबुद्धि ही संसार क्लेशका कारण है ॥३८॥

जीव चिद् वस्तु हैं। वे चित् और जड़के सन्धि (मिलन) स्थलपर तटस्था शक्ति द्वारा प्रकटित होकर उसी स्थानसे चित्-जगत् और मायिक जगत् दोनोंको ही देखने लगे। उनमें से जिन जीवोंने भगवत् ज्ञानके प्रति आकृष्ट होकर चित् जगतमें जाना चाहा, वे नित्य भगवद्-उन्मुखताके कारण चित् शक्तिकी विलासगत ह्लादिनीका बल पाकर कृष्णपार्षदके रूपसे चित् जगतमें लाये गये। जो जीव अपनी स्वेच्छासे दूसरी ओर स्थित मायाकी ओर देखकर मोहित हुए और मायाका भोग करनेके लोभसे उधर ही जाना चाहा, उनको मायाधीश कारणार्णवशायी पुरुषावतारने जड़ जगतमें पहुँचा दिया।(छठे परिच्छेदमें देखिये) ऐसा होनेका कारण एकमात्र जीवोंकी भगवत-विमुखता ही है। मायाके बीच आते ही मायाकी वृत्ति अविद्याने जीवको आच्छादित कर दिया, जिससे जीव अविद्याके बन्धु-कर्मके चक्करमें पड़ गया। इसी स्थल पर उसकी तुलना कर्मफलका भोग करनेवाले पक्षीसे हुई (मुण्डक ३।१।१ और श्वेताश्वतर ४।६ मन्त्रमें देखिये)।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

क्षीरोदशायी पुरुष और जीव इस अनित्य जगतरूप पीपलके पेड़पर दो मित्रों (सखाओं) की भाँति निवास कर रहे हैं। उनमेंसे एक अर्थात् जीव अपने कर्मोंके अनुसार पीपलके फलोंका आस्वादन करने लगा और दूसरा अर्थात् परमात्मा फलका भोग न कर साक्षीके रूपमें केवल देखने लगे। मुण्डक (३।१।२) तथा श्वेताश्वतर (४।७) में कहा गया है—

"समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः॥"

अर्थात् उस एक ही वृक्ष पर निवास करनेवाला जीव माया मोहित होकर शोक करते-करते पतित हुआ।

श्रीमद्भागवत (११।२।३७) में भी कहा गया है-

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः"

जब जीव ईश - ज्ञानसे विमुख होता है, तभी द्वितीय वस्तु रूप मायिक अविद्याके प्रति उसका अभिनिवेश हो जाता है। इसी द्वितीयाभिनिवेशके कारण ही जीवका संसार-भय, देहमें आत्मबुद्धि और स्वरूप-भ्रम (अस्मृति) हुआ है। विपर्ययका तात्पर्य है—स्व-स्वरूपका भ्रम। यही अविद्याके सब से पहला फल है। इसीसे चित् स्वरूपको भूलनेपर जड़गत स्थूल-सूक्ष्म शरीरके प्रति "मैं" की बुद्धि प्रबल होकर अपने शुद्ध स्वरूपगत कृष्णदासत्वकी विस्मृति गाढ़ी हो जाती है। अविद्या माया जीवके चित्स्वरूपके ऊपर शरीर और पुनः उसके भी ऊपर स्थूल शरीर—ये दो आवरण डाल देती है। मायिक अहंकार, मायिक चित्त, मायिक बुद्धि और मायिक मन—इन चार सूक्ष्म-जड़ों द्वारा लिङ्ग देह गठित हुआ है। इसी शरीरमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन षड्रिपुओंका निवास होता है।

ये छः कभी पुण्य और कभी पापमय होकर जीवोंको भली और बुरी वासनाओंका कारण बनते हैं। लिङ्ग शरीरमें जो "मैं" का अहङ्कार होता है, उससे जीव का शुद्धचिद् अहङ्कार आच्छादित हो पड़ा है। परन्तु लिंग शरीरसे न तो कर्म होता है, न भोग ही; इसलिये सूक्ष्म शरीरके ऊपर हाड़, चाम, खून, मांस, मज्जा, मेद और शुक्र-सप्त धातुओंसे निर्मित एक स्थूल शरीर होता है। इस शरीरमें जन्म, अस्तित्व, बढ़ना, परिणाम, क्षय एवं मृत्यु—ये छः विकार होते हैं। स्थूल शरीरको पाकर जीवका जड़ अहङ्कार और भी घनीभूत हो जाता है। तब वह स्थूल शरीरको ही "मैं" समझने लगता है। इस प्रकार स्व-स्वरूप भ्रम-से विषम काम्यकर्म-बन्धन ही वर्णाश्रमबद्ध-विधि द्वारा कर्म, अकर्म और विकर्म तथा नित्यनैमित्तिक और काम्यकर्म और उनके फल पुण्य और पाप—ये सब बन्धन जीवको दृढ़रूपसे मायिक कर डालते हैं। स्थूल-लिंग शरीरोंके सम्बन्धसे नाना प्रकारके अनर्थ उत्पन्न होते हैं। बृहदारण्यक में कहा गया है—

स वा अयमात्मा यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति। पापकारी पापो-भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। (४।४।५ ब्राह्मण)

अर्थात् वह या यह (स्थूल-लिंग शरीरधारी) आत्मा जैसा-जैसा आचरण करता है, वैसी-वैसी अवस्था प्राप्त होता है। साधु आचरणसे साधु और पापाचरणसे पापी हुआ करता है। पुण्यकर्मसे पुण्य और पापकर्मसे पाप होता है।

श्रीमद्भागवतमें भी कहते हैं—

स दह्यमान-सर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः॥
(३।३०।७)

—कुटुम्बका भरण-पोषण करनेकी चिन्तामें दुराशय मूढ़ व्यक्ति सिर-से पैर तक सदा जलता रहता है; अतएव वह पापाचरणमें प्रवृत्त होता है।

इन दोनों कथनोंका अर्थ स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि जीव स्थूल और लिंग अभिमानके कारण संसार में आबद्ध होकर पाप-पुण्य द्वारा दुःख-कष्ट पा रहे हैं। भगवत-सन्दर्भधृत सर्वज्ञसूक्तमें कहते हैं—

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द-ईश्वरः।
स्वावद्या-संवृतो जीवः संक्लेश-निकराकरः॥

—सच्चिदानन्द परमेश्वर ह्लादिनी और सम्वित् शक्ति द्वारा आलिङ्गित-विग्रह हैं। जीव अपनी अविद्या से आच्छादित होकर संसारमें नाना-प्रकारके दुःखोंका भोग करता है।

श्रीजीव गोस्वामी परमात्मसन्दर्भमें कहते हैं—

अथाविद्याख्यस्य भागस्य द्वे वृत्ती आवरणात्मिका विक्षेपात्मिका च। तत्र पूर्वा जीव एव तिष्ठन्ती तदीयं स्वाभाविकं ज्ञानमावृण्वाना। उत्तरा च तं तदन्यथा-ज्ञानेन सञ्जयन्ती वर्त्तते॥५४॥

तात्पर्य यह है कि माया शक्तिकी दो वृत्तियाँ हैं—विद्या और अविद्या। विद्यावृति मायाकी अकपट कृपासे उत्पन्न होती है। अविद्या वृत्ति मायाकी उस शक्तिको कहते हैं जिसके द्वारा वह दोषी जीवोंको

दण्ड प्रदान करती हैं । अविद्याकी भी दो वृत्तियाँ होती हैं—आवरणात्मिका और विक्षेपात्मिका । जीवके स्वाभाविक सम्बन्ध ज्ञानको ढकने वाली अविद्यावृत्तिको आवरणात्मिका वृत्ति कहते हैं तथा अविद्याकी वह वृत्ति जो जीवके स्वाभाविक सम्बन्ध-ज्ञानके विपरीत अन्य प्रकारका ज्ञान उत्पन्न कर जीव-को अज्ञान करती है, उसे विक्षेपात्मिका वृत्ति कहते हैं । इस विषयमें निम्नलिखित कारिकायें हैं—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
इत्याद्युपनिषद्वाक्यान्निर्गुणो जीव एव हि ॥
चेतनः कृष्णदासोऽहमितिः-ज्ञाने गते परे ।
प्रकृतेर्गुण-संयोगात् कर्मबन्धोऽस्य सिध्यति ॥
कर्मचक्र-गतस्यास्य सुख-दुखादिकं भवेत् ।
षड् गुणब्धि निमग्नस्य स्थूल-लिंग व्यवस्थितः ॥

वेद कहते हैं कि सत्त्व, रज और तम—ये तीन अपरा या जड़ा प्रकृतिके गुण हैं । जीव स्वभावतः निर्गुण हैं । परन्तु क्षुद्रताके कारण भगवत् विमुखता द्वारा जब वे दुर्बल हो जाते हैं, तभी मायाके गुण प्रबल होकर उसे पराजित कर देते हैं । तब "मैं चेतन पदार्थ हूँ तथा कृष्णदास हूँ" यह ज्ञान आच्छादित होने पर प्राकृतगुणोंके संयोगसे जीवोंका कर्म-बन्धन सिद्ध हुआ । इस प्रकार कर्म-चक्रमें पड़े हुए जीव स्थूल-सूक्ष्म शरीर द्वारा षड्गुणरूपी समुद्रमें गिर पड़ता है तथा उसमें डूब जाने पर सांसारिक सुख-दुःखका उदय होता है । यही जीवकी वृद्धावस्था या मायाग्रस्तावस्था है । यह दुरवस्था जीवके गठनसिद्ध तटस्थधर्मके कारण होती है । जीव शुद्ध चेतन वस्तु है । मायावृत्ति उसकी उपाधि है । आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—यह त्रिताप उसी उपाधिका फल है ।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुर

श्रीविग्रह-तत्त्व

[श्रीधाम नवद्वीप-परिक्रमा, श्रीमन्महाप्रभुजीका आविर्भाव-महोत्सव एवं श्रीविग्रह-प्रतिष्ठाके अवसर पर समितिके प्रतिष्ठाता एवं नियामक आचार्यके अध्यक्षीय भाषणसे संग्रहीत]

भगवानका श्रीविग्रह कहनेसे मायासे सर्वथा अतीत उनके षडैश्वर्यपूर्ण, नित्य, अप्राकृत, सच्चि-दानन्द स्वरूपका बोध होता है । शास्त्रोंमें सर्वत्र ही भगवानके सच्चिदानन्द श्रीविग्रहका और उनकी सेवा-पूजाका उल्लेख है । श्रीविग्रहकी प्रतिष्ठा नहीं होती । स्वयंरूप श्रीविग्रह जगत्के प्रति कृपा कर स्वयं प्रकट या आविर्भूत होते हैं ।

कुछ लोगोंका ऐसा कहना है कि 'परतत्त्ववस्तुका कोई श्रीविग्रह नहीं है । वे निराकार हैं । उनका रूप स्वीकृत होनेसे उसका जन्म-मरण भी स्वीकार करना पड़ेगा । दूसरी बात रूप एकदेशीय होनेके कारण सर्वव्यापी नहीं हो सकता । परन्तु वेद-वेदान्त-उपनिषद्-प्रमाण आदि शास्त्रोंमें परतत्त्व वस्तुको जन्म-मरण रहित और सर्वव्यापी बतलाया गया है ।

ऐसी दशामें वे निराकार ही ठहरते हैं।' परन्तु उनके इस आक्षेप पर विचार करने से उनकी सारी युक्तियाँ सर्वथा अयुक्तिसंगत एवं निराधार प्रतीत होती हैं। हमारे वेद आदिमें सर्वत्र ही परतत्त्व वस्तुका श्रीविग्रह घोषित है—

(१) ऋग्वेदमें (२।२०) में—

'ॐतद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्।

अर्थात् दिव्यसूरी वैष्णवजन या मुक्त पुरुष अपने अप्राकृत नेत्रोंसे विष्णुके परमपदका सदा-सर्वदा दर्शन करते हैं।

(२) ऋग्वेद (६।५।५८।८) में—

'अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।'

हे बुद्धिमान मनुष्यों ! परमेश्वरके श्रीविग्रहका पूजन करो, भलीभाँति पूजन करो।

(३) यजुर्वेद (१५।६५) में—

"सहस्रस्य-प्रतिमा असि।"

हे परमेश्वर ! आप सहस्रोंकी मूर्ति हैं अथवा सहस्रशीर्षा पुरुष हैं।

(४) गोपालतापनीयोपनिषद् (उत्तर) में—

'गोविन्दं सच्चिदानन्द-विग्रहम्।'

(५) नृसिंह तापनीयोपनिषद् (उत्तर) में—

ऋतं सतं परं ब्रह्म साक्षान्नृकेशर-विग्रहम्।'

(६) महावराह में—

'सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।'

(७) वैष्णवतंत्रमें—

'अष्टादश-महादोषैर्रहिता भगवत्तनुः।'

(८) ब्रह्मसंहिता (५.१)

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

(९) श्रीमद्भागवत (१०।१४।३१)—

अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

इत्यादि अगणित शास्त्रवचनोंके द्वारा भगवानका श्रीविग्रह प्रमाणित है। इतना पर भी यदि कोई परतत्त्वको निराकार बतलानेका हठ करता है, तो निश्चितरूपसे वह पाषण्ड एवं अहिन्दू ही समझा जायगा। परतत्त्वके आकारको मानना ही हमारे हिन्दूसमाजकी मूलभित्ति है। जो परतत्त्वका श्री-विग्रह नहीं मानता, उसे समाजने अहिन्दू माना है तथा उसके साथ खान-पान अथवा वैवाहिक आदि किसी प्रकारका संबन्ध नहीं रखा है। जैसे मुसलमान, इसाई, बौद्ध, ब्रह्मसमाज, सिख और कबीर पंथी आदिके साथ हिन्दूओंका उपरोक्त किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। हमारे पूर्वजोंके विचार ही ऐसे थे—

श्रीविग्रह जे ना माने सेई त पाषण्ड।
अस्पृश्य अदृश्य सेइ हय यमदण्ड्य॥

(चैतन्यचरितामृत)

कुछ लोग शास्त्रोंमें निराकार अरूप और निर्गुण आदि शब्दोंको देखकर परतत्त्व वस्तुका श्रीविग्रह स्वीकार नहीं करना चाहते। परन्तु शास्त्रोंमें निराकार आदि शब्दोंके द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि परमेश्वरका रूप ही नहीं है। विचार करनेपर देखा जाता है कि निराकार, अरूप आदि शब्द मौलिक शब्द

नहीं है। मौलिक शब्द हैं—'आकार, रूप, गुण' आदि। 'आकार' शब्दके पूर्व उपसर्ग लगाकर 'निराकार'—यह निषेधवाचक शब्द बना है। उसी उसी प्रकार रूप' मौलिक शब्द है;उससे नञ् तत्पुरुष समास द्वारा 'अरूप'–यह निषेधवाचक शब्द बना है। उसी प्रकार दूसरे दूसरे निषेधवाचक शब्दोंके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये। इसलिये परतत्त्व वस्तुका रूप अर्थात् श्रीविग्रह अवश्य है। इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि यदि परतत्त्वका रूप या आकार है, तब उनको निराकार या अरूप क्यों कहा गया है। इसका उत्तर भी शास्त्रोंने दिये हैं—

अचिन्त्या खलु भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
(महाभारत भी० प० ५।१२)

अर्थात् मायासे परे होनेके कारण परतत्त्वको भौतिक इन्द्रियोंकी परिधिमें नहीं लाया जा सकता है—न तो इन आँखोंसे उसे देखा जा सकता है, न मन आदिके द्वारा उसका चिन्तन ही किया जा सकता है। परन्तु उनके अवाङ्मनसोगोचरः होने पर भी प्रेमीभक्तजन अपने अप्राकृत नेत्रोंमें प्रेमका अञ्जन लगाकर उनका दर्शन करते हैं—

प्रेमांजनच्छुरित भक्ति विलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुण स्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

अस्तु, प्राकृत नेत्रसे अथवा किसी भी प्राकृत करणसे उनका साक्षात्कार नहीं होनेके कारण ही उनको कहीं-कहीं निराकार या अरूप कहा गया है। वास्तवमें वे स्वयं सर्व गुण आधार अप्राकृत श्रीविग्रह ही हैं। इसे हम पहले ही दिखला चुके हैं। जो लोग परब्रह्मको निराकार मानते हैं, वे परिदृश्यमान नाना-प्रकारके रूपोंसे भरे विश्वकी उत्पत्ति निराकारसे ही मानते हैं। क्योंकि जगत्रूप कार्यके कारण ब्रह्म ही है—यह वेद-वेदान्त-उपनिषद् पुराण द्वारा प्रामाणित तथ्य है। निराकारवादियोंकी इस मान्यताका तात्पर्य यह है कि Nothing से Something or everything पैदा हो सकता है अथवा Negative से positive पैदा हो सकता है। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसके विपरीत Something या Positive से ही Nothing या Negative की उत्पत्ति देखी जाती है। अतएव दृश्यमान जगत्के मूल-कारण परब्रह्म Nothing या Negative नहीं;बल्कि wholething (पूर्णवस्तु) या Positive ही हैं। दूसरे शब्दोंमें उनका श्रीविग्रह हैं इस विषयमें "असतोसत जायते" उपनिषद् वाक्यके असत्का तात्पर्य आत्यान्तिक अभावसे नहीं, बल्कि प्राग्-अभावसे है।

अस्तु, पहले निराकार है, पीछेसे आकार हुआ—यह अवैदिक विचार-धारा है। इस भ्रान्त विचार धाराने आधुनिक - विश्वको बड़ी तेजीसे ध्वंसके कागार पर उपस्थित कर दिया है। इस विपत्तिको हमरे पूर्वज ऋषिगण जानते थे। इसीलिये उन्होंने ऐसे निराकारवादियों से अपने समाजकी रक्षाका सब प्रकारसे प्रयास किया है। २००० वर्षका भारतीय इतिहास देखनेसे यह यह पता चलता है कि भारत भूमिमें बौद्ध और जैन आदि प्रधान निराकारवादी

थे। वे वेदादि ग्रन्थोंको नहीं मानते थे। इसलिये भारतीयोंने उनको अपने समाजसे दूधसे मक्खीकी भाँति निकाल बाहर किया। तात्पर्य यह कि अत्यन्त प्राचीनकालसे ही भारतीय जनता निराकारवादियों को श्रद्धाकी दृष्टिसे नहीं देखती—उनका स्पर्श किया किया हुआ जल भी ग्रहण नहीं करती है।

आधुनिक नेतृवृन्द और उनके द्वारा प्रचलित आधुनिक शिक्षा-प्रणाली, दोनों ही भारतीयताके प्रतीक नहीं हैं। हम यह चैलेंज देते हैं कि कलकत्ता आदि विश्वविद्यालयोंके अधिकांश परिचालकगण सर्वथा भ्रान्त हैं, भारतीय संस्कृतिसे अपरिचित हैं तथा विश्वको ध्वंसके पथपर अग्रसर कर रहे हैं। आजकालके अधिकांश सम्प्रदाय निराकारवादी और अहिन्दू हैं। ब्रह्मसमाजके प्रतिष्ठाता राजा राममोहन रायका मस्तिष्क प्रखर होने पर भी वे "जबरदस्त मौलवी" थे। क्योंकि उन्होंने वेद-वेदान्त और उपनिषदोंका विधिवत् अध्ययनके बदले कुरान शरीफका अध्ययन किया था। उनका ब्रह्मसमाज कुरान एवं बाइबिलकी अधजली खिचड़ी है। उसमें हिन्दूत्वका गंध तक भी नहीं। उसी प्रकार दयानन्द सरस्वती भी कुरानके छात्र थे। ऐसे लोगोंका विचार विशुद्ध भारतीय कैसे हो सकता है? ये सभी निराकारवादी अहिन्दू हैं। अतः उनका परित्याग करनेमें ही भारतीयोंका हित है।

निराकारवादी यथेच्छाचारी होते हैं। स्वाधीनता के पश्चात् ही 'निराकार' वाद या 'सोऽहं' वादके खुले प्रचार-प्रसारके कारण ही भारतमें भ्रष्टाचार और नैतिक पतन आदि उच्छृङ्खलता अधिक बढ़ी है। आज भगवानोंकी बाढ़सी आ गयी है। सभी लोग भगवान् बन गये हैं। सभी समान बननेका स्वप्न देखते हैं। यही नहीं, जनता भी जनार्दन हो गयी है एवं दरिद्र-दुःखी भी नारायण हो गये हैं। आज यहाँ सतीसाध्वी एवं उज्ज्वल चरित्रवाली नारियों तथा चरित्र भ्रष्टा, रूप विक्रय करनेवाली नारियों—दोनोंका बराबर दर्जा है। बड़े-बड़े नगरोंसे लेकर छोटे छोटे गाँवोंमें आज शिशु - सदनके नाम पर जारज पुत्रोंके पालन - पोषणकी सुव्यवस्था कर अनैतिकताका खुले आम प्रश्रय दिया जा रहा है। गाय, सूअर आदिका माँस, रक्त और सबका मलमूत्र खानेवाली मछली आदिका माँस खानेवाले अस्पृश्य पुरुषों एवं निरामिष विशुद्ध सात्त्विक भोजन करने वाले सदाचार सम्पन्न साधु पुरुषोंका बराबर दर्जा है। आज ऐसे विचारोंका विरोध करनेवाला राजदण्डका भागी होता है। क्या यही साम्यवादका या प्रजातन्त्रका स्वरूप है? जब हम ऐसी बुराइयोंकी जड़ खोजते हैं, तो उसे मूलतः निराकारवादकी भावना ही देखते हैं। ऐसी दशामें विश्वके कल्याण के लिए मन्दिरोंमें श्रीविग्रह प्रतिष्ठा कर उनकी सेवा-पूजाका प्रचलन अत्यावश्यक है। मेदिनीपुर जिलाके पूर्वचक निवासी परलोकगत श्रीयुत गिरिधारी दासाधिकारी महोदयने इस मन्दिरके निर्माणमें प्रचुर अर्थकी सहायता दी है। इसलिये वे भगवान्के कृपापात्र हैं। जगत उनका चिर ऋणि रहेगा।

अभी कुछ ही दिनोंकी बात है, विनोबा भावे श्रीनवद्वीपमें आये थे। सुना है उन्होंने एक सभामें कहा है कि साधु-संतों एवं मठाधीशोंको भूदानमें योगदान करना चाहिये तथा ठाकुरजीके नामकी

जमीन आदि सम्पत्तिको देशके गरीबोंके लिए दान करना चाहिए, इसीसे देशका, दसका और अपना कल्याण है; यही साधुता है ।" परन्तु उनकी इस नास्तिकता पूर्ण बातसे धार्मिक जनताको दुःख ही होगा । क्योंकि भारतीय संस्कृतिका विचार इसके ठीक विपरीत है। कहाँ सब कुछ त्याग कर—भगवान्‌को अर्पण कर भगवत-सेवाकी प्रवृत्ति और कहाँ भगवत-सेवाके उपकरणोंको भी आत्मसात् कर विषय भोगकी प्रवृत्ति । भगवान्‌के तृप्त होनेसे ही संसार तृप्त हो सकता है, सुखी हो सकता है—"तस्मिन् तुष्टे जगत्तुष्टिः ।" भारतीयोंका तो सदासे यही आदर्श रहा है कि—तन-मन-वचन-धन—सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर एकमात्र उन्हींकी सेवा द्वारा उन्हें प्राप्त करनेकी चेष्टा करना ही मनुष्य जीवनका एकमात्र कर्तव्य है; विषय भोगके लिये प्रयास करना तो पशु-धर्म है, जो सभी योनियोंमें समान रूपसे प्राप्त है । विनोबाजी शास्त्रज्ञ नहीं हैं; उनके सभी विचार अशास्त्रीय और गलत हैं । मैं उन्हें परामर्श दूँगा कि वे भिक्षा कर सच्चे साधु-सन्तोंकी सेवा करें और भगवान्‌की सेवाका व्रत धारण करें । ऐसे ही कार्योंसे उनका और जगत्‌का कल्याण होगा । विनोबाजीको सन्तोंसे भिक्षा लेनेका अधिकार नहीं है । केवल बाहरी प्रोपोगण्डा द्वारा धर्मका प्रचार नहीं होता । ईश्वर सेवासे प्रत्येक व्यक्तिकी, देशकी और सम्पूर्ण विश्वके निखिल प्राणियोंकी सेवा भी अपने-आप हो जाती है । परन्तु केवल गरीबकी सेवासे, केवल भारतकी सेवासे अखिल विश्वकी तो क्या एक भी व्यक्ति या प्राणी-को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता है । क्योंकि उनकी वैसी सेवा एकदेशीय और आंशिक भौतिक इन्द्रिय-चरितार्थता है । धन और जमीनकी प्रचुरतासे आज तक कोई भी सुखी नहीं हो सका है । अतएव उनका वैसा विचार भी एक प्रकारसे निराकारवादका ही अंग है—भारतीय चिन्तास्रोत नहीं है । हम इस विषयकी पृथक रूपमें आलोचनाका प्रयास करेंगे ।

इस निराकारवादी चिन्तास्रोतसे बचनेके लिये दक्षिण भारतकी भाँति सर्वत्र ही विशाल-विशाल श्रीविग्रहोंकी तथा उनकी सेवा - पूजाकी आवश्यकता है । सन्त लोग अपने लिये कुछ भी नहीं करते । उनका सब कुछ भगवान्‌की तुष्टिके लिये ही होता है ।

अब मैं अन्तमें एक बात निवेदन कर अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा । इस विशाल मन्दिरके मध्य प्रकोष्ठमें श्रीश्रीगौराङ्ग-राधाविनोद बिहारीजी विराजमान हैं । पूर्वी भारतके अधिकांश मन्दिरोंमें जहाँ श्रीकृष्ण-विग्रह कृष्णवर्णके और श्रीमती राधिका विग्रह श्वेतवर्णकी हैं, वहाँ श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठके नव-निर्मित मन्दिरके श्रीविग्रहोंका वैशिष्ट्य यह है कि श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण—दोनों ही श्रीविग्रह श्वेतवर्ण-के हैं । यद्यपि शास्त्रोंमें सर्वत्र ही श्रीमती राधिकाजी-को 'तप्तकांचन - गौराङ्गी', 'हेम - गौराङ्गी' और 'तप्तहेम-प्रभा' आदि कहा गया है तथा उन्हें कभी भी श्वेत - वर्णका नहीं बतलाया गया है, तथापि अधिकांश मन्दिरोंमें उनका श्वेत-विग्रहकी सेवित-पूजित होता है । परन्तु यहाँ श्रीमती राधिका-विग्रह-की भाँति श्रीकृष्ण-विग्रह भी श्वेतवर्णके हैं । इस वैशिष्ट्यका कारण निम्नलिखित श्लोकमें बड़े ही चमत्कारपूर्ण एवं मार्मिक रूपमें अभिव्यक्त हुआ है—

राधा-चिन्ता-निवेशेन यस्य कान्तिर्विलोपिता ।
श्रीकृष्ण-चरणं - वन्दे राधालिंगित - विग्रहम् ॥

एक समय श्रीमती राधिकाजी मान करके रसिक चूड़ामणि श्यामसुन्दरको कुञ्जके भीतर ही छोड़कर न जाने कहाँ चली गयीं । यह देख कर श्रीकृष्ण श्रीमती राधिकाके विरहमें अत्यन्त कातर हो उठे । उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा निकल-निकल कर उनके वक्षस्थलको सींचने लगी । वे अति आर्तस्वरसे हा राधे ! हा राधे ! कह कर नवहेम गौरांगी श्रीमती राधिकाकी चिन्तामें ऐसे तन्मय हो गये कि उन्हें

अपने तन-मनकी तनिक भी सुध-बुध न रही । उस समय श्रीराधाजीके विरहमें अतिशय निमग्न होनेसे उनकी कृष्ण-अंगकान्ति विलुप्त हो गयी तथा उसके स्थान पर श्रीमती राधिका जैसी गौरकान्ति प्रादुर्भूत हुई अर्थात् उस समय सजल-जलद-नील कान्तिवाले श्रीकृष्णका श्रीअंग गलित हेमकान्ति (श्रीमती राधिका जैसी) से देदेप्यमान हो उठा । उन राधा-लिंगित अर्थात् राधाके चिह्न (कान्ति) से युक्त विग्रह—श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ । अथवा मान भंगके पश्चात् श्रीमती राधाद्वारा आलिंगित श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ ।

श्रीराधाभाव-कान्ति - सुवलित श्रीकृष्ण अर्थात् विप्रलंभ-रस-मूर्ति श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुकी निजस्व श्रीरूपानुग धारामें श्रीमती राधिकाकी ही प्रधानता है । हम रूपानुग किङ्करगण श्रीमती राधाके पक्षके हैं—

राधापक्ष छाड़ि, जे - जन से-जन,
जे-भावे से-भावे थाके ।
आमि त राधिका-पक्षपाती सदा,
कभु नाहि हेरि ताके ॥

—श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

अतएव महाभाव स्वरूपा श्रीमती राधिकाकी चिन्तामें अभिनिविष्ट होकर स्व-अंगकान्ति विलुप्त कर श्रीराधा-अंगकान्ति से युक्त श्रीकृष्णका यह महा-भावोद्दीपक श्रीविग्रह श्रीराधापक्षीय भजन-निष्ठ महापुरुषोंके लिये अतिशय गोपनीय एवं परम आदरणीय है ।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि काला-रंग (नव-घन-श्याम) क्या सफेद हो सकता है ? इसका उत्तर है—हाँ, हो सकता है । चरक संहिताकी व्यवस्थानुसार रंग परिवर्तन होता है । कलकत्ता नगरकी काली लड़कियाँ गोरी बननेके लिये प्रतिदिन नियमित रूपसे गंगास्नान करती हैं । उनके रंगका परिवर्तन लक्ष्य किया जाता है । दूसरा उदाहरण तैल-पोका (गीली जमीनमें पैदा होनेवाला तथा तेल पीनेवाला एक कीड़ा) को एक छोटासा किन्तु बड़ा ही शक्तिवाला काँचकी तरह चमकदार काँच कीड़ा नामक कीड़ा (बँगलामें काचपोका कहा जाता है) पकड़कर अपने मिट्टीके छोटेसे घरमें बन्द कर देता है । तब काँच कीड़ेके घरमें बन्द तैलपोका अत्यन्त भयभीत होकर काँच कीड़ेकी प्रगाढ़ चिन्ता करते-करते कुछ ही समयमें स्वयं काँच कीड़ाके रूपमें बदल जाता है । भगवान् जीव-शिक्षाके लिये उदाहरणके रूपमें ऐसे-ऐसे प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं । यह उदाहरण प्रत्यक्ष रूपमें देखा जाता है । इसमें वैज्ञानिक परीक्षाकी कोई अवश्यकता नहीं है । निराकारवादी इसी उदाहरणके द्वारा सायुज्य मुक्तिको (जीव मुक्तावस्थामें जीवत्व अर्थात् अपनी सत्ता छोड़ कर स्वयं ब्रह्म में मिल कर एक हो जाता है—ब्रह्म हो जाता है—इस मायावादी विचारको) प्रमाणित करनेका असफल प्रयास करते हैं । परन्तु उक्त उदाहरणसे यह बात प्रमाणित नहीं होती । क्योंकि, उपरोक्त दोनों कीड़े एक नहीं हो जाते हैं, बल्कि दोनों कीड़े अलग - अलग दो ही रहते हैं; केवल तैलपोकाका रूपमात्र बदल जाता है । इसके द्वारा सारूप्य मुक्तिका उदाहरण दिया जा सकता है—सायुज्य मुक्तिका नहीं । इसी प्रकार श्रीमती राधाकी चिन्ता करते-करते अतिशत तन्मयताहेतु श्रीकृष्ण श्रीराधाकी अंगकान्तिको प्राप्त हुए—न कि स्वयं राधा होकर एकाकार हो गये । सर्वोत्तम भजन-निष्ठा प्राप्त महाभागवतोंके हृदय सिंहासन पर यह महारसराज मूर्त्ति प्रकाशित होती है ।

—सम्पादक द्वारा संग्रहीत

नाम-तत्व-विचार

श्रीकृष्णनाम ग्रहण करनेके अतिरिक्त जीवके कल्याणका कोई दूसरा उपाय नहीं है। हमारे प्राणेश्वर श्रीगौरांग महाप्रभुजी शुद्ध कृष्णनामका जगतमें प्रचार करनेके लिये ही अवतीर्ण हुए थे । समस्त प्रकारकी भक्तिके अङ्गोंमें श्रीनाम ही प्रधान हैं ।

भगवन्नाम दो प्रकारके हैं–मुख्य नाम और गौण नाम। मायिक गुण अवलम्बनपूर्वक जगत सृष्टि सम्बन्धी जो सब नाम प्रचलित हैं, वे सभी गौण अर्थात् गुण-सम्बन्धी हैं। सृष्टिकर्त्ता, जगत्पाता, विश्वनियन्ता, विश्वपालक, परमात्मा आदि बहुतसे नाम गौण नाम हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्म आदि नाम भी गौण नामके ही अन्तर्गत हैं। इन गौण नामोंका फल अत्यन्त अधिक होने पर भी इनके द्वारा चित् फल साक्षात् रूपसे सहसा उदय नहीं होता। चित्-जगत्में मायिक काल और देशसे अतीत जो नाम समूह नित्य वर्तमान हैं, वे चिन्मय और मुख्य हैं। नारायण, वासुदेव, जनार्दन, हृषिकेश, हरि, अच्युत, गोपाल, गोविन्द, राम आदि मुख्य नाम हैं। ये नाम भगवद्धाममें भगवत्स्वरूपके साथ एक होकर वर्त्तमान हैं। जड़ जगतमें महासौभाग्यशाली पुरुषोंकी जिह्वा पर ये नाम भक्ति द्वारा आकृष्ट होकर नृत्य करते हैं। नामके साथ मायिक जगतका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। नाममें स्वभावतः भगवत स्वरूपकी सारी शक्तियाँ विद्यमान हैं। वे मायिक जगतमें अवतीर्ण होकर मायाको ध्वंस करनेमें प्रवृत्त होते हैं। इसीलिये नाम भी नामीकी तरह सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। इस मायिक संसारमें हरिनामके अतिरिक्त जीवोंका कोई दूसरा बन्धु नहीं है। नाम ही एक मात्र संसार-सागरसे पार होनेकी सुदृढ़ नौका है। बृहद्नारदीय पुराणमें हरि-नामको ही एकमात्र गति बतलाया है—

> हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
>
> (बृ० पु० ३८।१२६)

अर्थात् सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ, द्वापरमें अर्चनकी प्रधानता होती है। परन्तु कलियुगमें हरि-नाम ही मेरा जीवन है, हरिनाम ही मेरा जीवन है, हरिनाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें नामके अति-रिक्त कोई दूसरी गति नहीं है, दूसरी गति नहीं है, दूसरी गति नहीं है। यहाँ पर तीन बार आवृत्ति होनेका यही उद्देश्य है कि वर्त्तमान युग (कलियुग) में नाम ही सर्व समर्थ और कृष्णकी अनन्य भक्ति प्रदायक हैं।

नामकी अनन्त शक्तियाँ हैं । पातकोंका नाश करनेमें हरिनाममें बड़ी अद्भुत शक्तिका समावेश है। हरिनाम क्षण भरमें समस्त प्रकारके पापोंको समूल नष्ट कर डालते हैं—

> अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्व पातकैः।
> पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैर्यथा॥
>
> (गरुड़ पुराणे १-२३३-१२)

अर्थात् जो व्यक्ति अनजानमें भी श्रीकृष्णका नाम कीर्त्तन करता है, वह तत्क्षण सर्व प्रकारके पापों से मुक्त हो जाता है। हरिनाम कीर्त्तन करनेसे पापी व्यक्ति पापके हाथोंसे छुटकारा पा जाता है, ठीक उसी प्रकारसे जैसे मृग एक भयानक सिंहसे छुटकारा पा ले।

जो लोग नामका आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, उनके सभी प्रकारके दुःखों की समाप्ति हो जाती है यथा—

आधयो व्याधयो यस्य स्मरणान्नामकीर्त्तनात्।
तदेव विलयं याति तमनन्तं नमाम्यहम्॥
(स्कन्द पुराण)

अर्थात् जिनका 'नाम' स्मरण और कीर्त्तनसे समस्त प्रकारकी आधि व्याधियाँ सम्पूर्ण रूपसे दूर हो जाती हैं, मैं उन अनन्तदेवको प्रणाम करता हूँ।

नाम श्रवण करनेके साथ ही नारकी व्यक्तियोंका उद्धार हो जाता है—

यथा यथा हरेर्नाम कीर्त्तयन्ति स्म नारकाः।
तथा तथा हरौ भक्ति मुद्वहन्तो दिवं ययुः॥
(नृसिंह तापनी)

अर्थात् अतिशय नारकी व्यक्ति भी जहाँ-जहाँ श्रीहरिका नाम कीर्त्तन करते हैं, वे उन-उन स्थानोंमें ही हरिके प्रति भक्ति प्राप्त कर दिव्य धाममें गमन करते हैं।

हरिनाम ग्रहण करने वाला अपने कुल समाज और देशको पवित्र करता है—

महापातकयुक्तोऽपि कीर्तयन्निशं हरिम्।
शुद्धान्तःकरणे भूत्वा जायते पंक्तिपावनः॥
(ब्रह्माण्ड पुराण)

अर्थात् यदि महापापी भी निरन्तर हरिनाम करे, तो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह निष्पाप लोगोंकी श्रेणीमें बैठने योग्य हो जाता है अर्थात् वह ब्राह्मणत्व प्राप्त कर समस्त पृथ्वी और कुल समाजको पवित्र करता है।

इसका ज्वलन्त प्रमाण महाप्रभु चैतन्यदेवके लीला-परिकर जगाई और मधाई हैं। जिनका जीवन ही कलुष कृत्योंमें बीता और जिन्होंने एक बड़ी पापराशिका संचय किया; उन दोनोंने श्रीश्रीनित्यानन्द प्रभु तथा चैतन्य महाप्रभुकी कृपासे हरिनाम स्मरण, श्रवण और कीर्त्तन करके परम पवित्र होकर महा वैष्णव पदवी प्राप्त कर लिया। उनका स्मरण कर लेनेसे ही पातकोंका विनाश हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीहरिनाममें वह शक्ति है, जो समस्त प्रकारके पापोंका मूलोच्छेदन कर श्रीकृष्ण की शुद्ध भक्ति तथा प्रेम को प्रदान करती हैं।

सभी पुराणोंमें श्रीहरिनामकी महिमाका प्रचुर वर्णन मिलता है। यथा बृहद् विष्णु पुराण में कहते हैं—

सर्वरोगोपशमं सर्वोपद्रवनाशनम्।
शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥

अर्थात् श्रीहरिनामका उच्चारण करनेसे सर्व प्रकारके रोगोंसे मुक्ति मिल जाती है। सब प्रकारके उपद्रव शान्त हो जाते हैं, सभी प्रकारके विघ्न विनष्ट हो जाते हैं और परा-शान्ति प्राप्त हो जाती है।

पुराणोंमें और भी कहा गया है कि नाम स्मरणकारीको कलिके किसी प्रकारके दोष नहीं छूते हैं। अर्थात् वह निष्पाप रहता है। यथा बृहद् नारदीय पुराणमें कहते हैं—

हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय ।
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः ॥

अर्थात् जो लोग नित्य काल हे हरे ! हे गोविन्द ! हे केशव ! हे वासुदेव ! हे जगन्मय ! ऐसा कहकर कीर्त्तन करते हैं, उनको कलि तनिक भी कष्ट नहीं दे सकता ।

और भी कहते हैं—हरिनाम स्मरणसे प्रारब्ध कर्म विनष्ट हो जाते हैं—

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान् ।
विमुक्त-कर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥

(श्रीमद्भागवत १२-३-४४)

अर्थात् मनुष्य मरनेके समय आतुरताकी स्थिति में अथवा गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवानके किसी एक नामका उच्चारण कर ले, तो उसके समस्त कर्म-बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उसे उत्तम से उत्तम गति प्राप्त होती है । परन्तु हाय रे कलियुग ! कलियुगसे लोग प्रभावित होकर उन भगवानकी आराधनासे भी विमुख जाते हैं ।

हरिनाम कीर्त्तनकी महिमा वेद-पाठसे भी बढ़कर है ।

मा ऋचो मा यजुस्तात मा साम पठ किंचन ।
गोविन्देति हरेर्नाम गेयं गायस्व नित्यशः ॥

(स्कन्द पुराण)

अर्थात् ऋक, साम और यजुः आदि वेदोंके पठन-पाठनकी कोई आवश्यकता नहीं; केवल श्रीहरिका 'गोविन्द' नाम ही कीर्त्तन करने योग्य हैं, तुम निरन्तर यही करना ।

श्रीहरिनाम समस्त तीर्थोंसे बढ़कर हैं—

तीर्थकोटिसहस्राणि तीर्थकोटिशतानि च ।
तानि सर्वाण्यवाप्नोति विष्णोर्नामानि कीर्तनात् ॥

(वामन पुराण)

अर्थात् एक सौ करोड़ या एक हजार करोड़ तीर्थोंमें भ्रमण करनेका जो फल होता है, वह सब कुछ केवल श्रीकृष्ण (विष्णु) के नामोंके कीर्त्तनसे ही पाया जाता है ।

श्रीहरिनाम सम्पूर्ण जगतको आनन्द प्रदान करने वाले हैं—

स्थाने हृषिकेश तव प्रकीर्त्या ।
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ॥

(गीता ११-१६)

अर्थात् हे हृषिकेश ! आपके यश-कीर्त्तनको श्रवणकर जगत अत्यन्त हर्षित और अनुरागको प्राप्त हो रहा है ।

हरिनामका आभास भी समस्त प्रकारके सत्कर्मों से अनन्त गुण अधिक फलदायक है—

गोकोटीदानं ग्रहणे खगस्य
प्रयागगङ्गोदककल्पवासः ।
यज्ञायुतं मेरुसुवर्णदानं
गोविन्दकीर्तनं समं शतांशैः ॥

अर्थात् सूर्य ग्रहण या चन्द्र ग्रहणके दिन गो दान या प्रयाग अथवा गङ्गातट पर एक कल्पतकका वास, हजारों यज्ञ और सुमेरु पर्वतोंके समान ऊँचे

सोनेके पर्वतका दान—यह सब कुछ 'गोविन्द'—नामके कीर्त्तनके सौवें भागके बराबर भी नहीं हो सकता।

श्रीहरिनाम, उच्चारणकारीको जगत पूज्य बना देते हैं—

नारायण जगन्नाथ वासुदेव जनार्दन ।
इतीरयन्ति ये नित्यं ते वै सर्वत्र वन्दिताः॥

(बृहद् नारदीय)

अर्थात् जो लोग निरंतर हे नारायण ! हे जगन्नाथ ! हे वासुदेव ! हे जनार्दन ! इस प्रकार कीर्त्तन करते हैं, वे सर्वत्र पूजे जाते हैं।

हरिनाम समस्त प्रकारके अर्थोंको प्रदान करने वाले हैं—

एतत् षड्वर्गहरणं रिपुनिग्रहणं परम् ।
अध्यात्ममूलमेतद्धि विष्णोर्नामानुकीर्त्तनम्॥

(स्कन्द पुराण)

अर्थात् श्रीविष्णुका नाम संकीर्त्तन जन्ममृत्यु आदिषड्वर्गका विनाशक,काम क्रोधादि षड्रिपुओंको दमन करने वाला और अध्यात्मज्ञानका मूल है।

श्रीहरिनाम सर्वशक्ति समन्वित हैं—

दानव्रततपस्तीर्थक्षेत्रादीनाञ्च याः स्थिताः ।
शक्तयो देवमहतां सर्वपापहराः शुभाः ॥
राजसूयाश्वमेधानां ज्ञानसाध्यात्मवस्तुनः ।
आकृष्य हरिणा सर्वाः स्थापिता स्वेषु नामसु ॥

(स्कन्द पुराण)

दानमें, व्रतमें, तपमें, तीर्थ-क्षेत्रोंमें, समस्त प्रकार के पापोंको हरण करने वाले सत्कर्मोंमें, शक्ति-समूह-में, राजसूय और अश्वमेध यज्ञादिमें तथा ज्ञान-साध्य आत्मवस्तुमें—जहाँ भी जो कुछ है, श्रीहरिने उसे वहाँसे आकर्षण कर अपने नाममें स्थापन कर दिया है।

नाम ही अगतियों के एकमात्र गति हैं—

अनन्यगतयो मर्त्या भोगिनोऽपि परन्तपाः
ज्ञानवैराग्यरहिता ब्रह्मचर्यादि वर्जिताः ॥
सर्वधर्मोज्झिताः विष्णोर्नाममात्रं कजल्पकाः ।
सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः ॥

(पद्मपुराण)

जिनकी कोई दूसरी गति नहीं है, जो भोगी हैं, दूसरोंको पीड़ा पहुँचाते हैं, ज्ञान और वैराग्यसे रहित हैं, ब्रह्मचर्य वर्जित हैं और जो समस्त धर्मोंसे बाहर हैं, वे केवलमात्र विष्णुका नाम कीर्त्तन कर जो गति प्राप्त करते हैं, उस गतिको सारे धार्मिकजन एकत्र मिलकर भी प्राप्त नहीं कर सकते।

श्रीहरिनाम सदा सर्वदा और सभी अवस्थाओं में किया जा सकता है—

न देशनियमस्तस्मिन् न कालनियमस्तथा ।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धके ॥

(विष्णुधर्मोत्तर)

हे नाम लोभिन् ! भगवन्नाम कीर्त्तनमें देश और कालका कोई नियम नहीं है, तथा उच्छिष्ट मुखसे अथवा किसी भी अशुचि अवस्थामें इसका निषेध नहीं है, अर्थात् कोई भी व्यक्ति पवित्र और अपवित्र समस्त अवस्थाओंमें हरिनाम कीर्त्तन कर सकता है।

हरिनाम मुक्ति प्रदान करने वाले हैं-

नारायणच्युतानन्त वासुदेवेति यो नरः ।
सततं कीर्त्तयेद्भुवि याति मल्लयतां स हि॥

(बाराह पुराण)

किं करिष्यति सांख्येन किं योगैर्नरनायक ।
मुक्तिमिच्छसि राजेन्द्र कुरु गोविन्दकीर्त्तनम् ॥

(गरुड़ पुराण)

जो मनुष्य नारायण, अच्युत, वासुदेव-इन नामों का निरन्तर कीर्त्तन करता हुआ पृथ्वी पर विचरण करता है, वह मेरे साथ एक लोकमें—गमन करता है ।

हे राजेन्द्र यदि आप मुक्त होना चाहते हैं, तो आप श्रीगोविन्दका नाम कीर्त्तन कीजिये। हे नर श्रेष्ठ! सांख्य या योगसे कुछ भी नहीं होनेका, ये क्या कर सकते हैं ?

श्रीहरिनाम वैकुण्ठलोकको प्रदान करते हैं-

सर्वत्र सर्वकालेषु येऽपि कुर्वन्ति पातकम् ।
नामसंकीर्त्तनं कृत्वा यान्ति विष्णोः परं पदम् ॥

(नन्दी पुराण)

जो सर्वत्र और सर्वदा पाप कार्य करते हैं, वे भी नाम संकीर्त्तन कर विष्णुका परम पद प्राप्त कर लेते हैं।

हरिनाम भगवानको प्रसन्न करानेके लिये सर्व साधनोत्तम हैं-

नामसंकीर्त्तनम् विष्णोः क्षुत्तृट्प्रपीड़ितादिषु ।
करोति सततं विप्रास्तस्य प्रीतो हृषीकेशः ॥

(बृहन्नारदीय पुराण)

हरिनाम जीवके परम पुरुषार्थ हैं-

इदमेव हि माङ्गल्यमेतदेव धनार्जनम् ।
जीवितस्य फलञ्चैतद्यद्दामोदरकीर्त्तनम् ॥

(स्कन्द एवं पद्म पुराण)

हरिनाम कीर्त्तन सब प्रकारके भक्ति साधनोंमें श्रेष्ठ हैं-

अघच्छित्स्मरणं विष्णोर्वह्वायासेन साध्यते ।
ओष्ठस्पन्दनमात्रेण कीर्त्तनं तु ततो वरम् ॥

(वैष्णव चिन्तामणि)

पद्म पुराणमें निम्न प्रकारसे नामका स्वरूप व्यक्त हुआ है—

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥

नाम और नामी परस्पर अभेद तत्व हैं। इसलिये नामी कृष्णके समस्त चिन्मय गुण उनके नामों में हैं, नाम सर्वदा पूर्ण तत्व हैं । हरिनाममें जड़-संस्पर्श नहीं है, वे नित्यमुक्त हैं, क्योंकि वे कभी भी मायिक गुणोंसे आबद्ध नहीं होते। नाम स्वयं कृष्ण हैं, अतएव चैतन्य रसके विग्रह हैं। नाम चिन्तामणि हैं, उनसे जो कुछ भी मांगा जाय, वे सब कुछ देनेमें समर्थ हैं।

जड़ जगतमें हरिनामका जन्म नहीं हुआ है। चित्कण स्वरूप जीव शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित होकर अपने चिन्मय शरीरसे नाम उच्चारण करनेका अधिकारी है। परन्तु मायाबद्ध होने पर जड़ इन्द्रियोंके द्वारा वह शुद्ध नाम नहीं कर पाता है । ह्लादिनी शक्तिकी कृपा हो जाने पर जिस समय स्व-स्वरूपकी क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, उसी समय उनका नाम उदय

होता है। नाम-उदय होते ही शुद्ध नाम मनोवृत्तिके ऊपर कृपापूर्वक अवतीर्ण होकर भक्तके भक्ति द्वारा पवित्र हुई रसनाके ऊपर नृत्य करते हैं। नाम अक्षराकृति नहीं हैं, केवल जड़ जिह्वाके ऊपर नृत्य करनेके समय वे वर्णके आकारमें प्रकाशित होते हैं।

तुलसी की माला या उसके अभावमें हाथ पर संख्या ठीक रखकर अपराधोंसे दूर रहकर निरन्तर हरिनाम करना चाहिए। शुद्धनाम होनेसे नाम-फल-प्रेमकी प्राप्ति होती है। संख्या रखनेका तात्पर्य-नाम-उच्चारणकारीका नाम-अनुशीलन बढ़ रहा है अथवा घट रहा है, यह जानना मात्र है। अतः उनके स्पर्शसे नामका अधिक फल अनुभव किया जाता है। नाम करनेके समय कृष्णके 'स्वरूप' और 'नाम' में अभेद बुद्धि रखकर नाम करना चाहिये।

६४ प्रकारके भक्ति-अंग नवधा-भक्तिके अन्तर्गत हैं। श्रीमूर्त्तिका अर्चन हो अथवा निर्जन (असत्सङ्ग त्याग पूर्वक) में नाम स्मरण हो, भक्तिके नौ प्रकार के अङ्गोंका सभी जगह पालन किया जा सकता है। श्रवण, कीर्त्तन आदि साधनोंमें श्रीनाम कीर्त्तन सबसे प्रबल हैं।

वैष्णव तीन प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। जो एकबार कृष्ण नाम लेते हैं—वे कनिष्ठ हैं एवं जो बार-बार नामानुशीलन करते हैं—मध्यम हैं और जिनके देखने मात्रसे ही रसना पर नाम नृत्य करने लगता है—वे उत्तम वैष्णव हैं।

पूर्ण श्रद्धासे उदित हुई अनन्य भक्ति द्वारा जिस कृष्णनामका उदय होता है, वह नाम ही शुद्धनाम है। इसके अतिरिक्त जो जो नाम होता है, वह नामाभास अथवा नामापराध है।

नाम 'साधन' और 'साध्य' दोनों हैं। जब नाम साधन भक्तिके साथ लिया जाय, तब उस नामको 'साधन' कह सकते हैं। फिर जब 'भाव' और 'प्रेम-भक्ति' के साथ लिया जाय तो नाम को ही 'साध्य' कहते हैं।

कृष्ण नाम और कृष्ण स्वरूपमें कोई भेद नहीं है, भेद है तो केवल यह है कि कृष्णनाम कृष्णस्वरूप से अधिक कृपा करते हैं। (जैव-धर्मसे)

संग्रहकर्त्ता—श्रीसत्यपाल ब्रह्मचारी

———